

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 11-08-17

नीलेकणी की चेतावनी

संपादकीय

भारतीय विशिष्ट पहचान प्राधिकरण (यूआईडीएआई) के संस्थापक प्रमुख नंदन नीलेकणी ने एक बार फिर आधार के तहत जुटाए गए आंकड़ों की सुरक्षा का मसला उठाया है। उन्होंने कहा कि अब तक आधार सिस्टम हैक नहीं किया जा सका है लेकिन भविष्य में इसकी सुरक्षा एक बड़ी चिंता का विषय होगी। इन्फोसिस के सह संस्थापक रहे नीलेकणी आईआईटी खडगपुर के एक इंजीनियर और उसकीस्टार्टअप के खिलाफ यूआईडीएआई द्वारा की गई शिकायत के बारे में बात कर रहे थे। इस स्टार्टअप में एक ऐप्लीकेशन विकसित की गई और अवैध तरीके से आधार डाटाबेस में सेंध लगाई गई। अकादमिक जगत के तमाम लोग और नागरिक अधिकार समूहों के कार्यकर्ता आधार में नामांकन का विरोध इसलिए भी करते रहे हैं क्योंकि इसमें आंकड़ों और निजता की सुरक्षा की व्यवस्था नहीं थी। आधार डाटा लीक होने की प्रत्येक घटना के साथ ये चिंताएं बढ़ती जाती हैं।

सरकार निरंतर इस बात पर जोर दे रही है कि आधार को पहचान का प्रमाण बना दिया जाए। तमाम कल्याणकारी योजनाओं के लिए तो उसे अनिवार्य कर ही दिया गया है। ये वे योजनाएं हैं जहां सरकार अपनी सब्सिडी का अधिकांश हिस्सा व्यय करती है। सरकार की यह दलील भी है कि आधार का इस्तेमाल तमाम अन्य सार्वजनिक सेवाओं और नियमनों के लिए भी किया जाना चाहिए। इसमें वाहन चलाने के लाइसेंस से लेकर मोबाइल फोन और मृत्यु प्रमाण पत्र तक शामिल हैं। सरकार की इस मांग को इस तथ्य से भी बल मिलता है कि 18 वर्ष से अधिक उम्र के 99 फीसदी भारतीय आधार के तहत नामांकन करा चुके हैं और जून के आखिर तक 1.15 अरब लोगों के पास आधार मौजूद था। आधार आंकड़ों की सुरक्षा से संबंधित ये चिंताएं बढ़ रही हैं क्योंकि हमारे यहां इनकी सुरक्षा के लिए कोई कानून नहीं है। हकीकत में सरकार देश के नागरिक समाज के साथ बड़ी न्यायिक लड़ाई लड़ रही है। इस लड़ाई में यह निर्धारित होना है कि निजता भारतीयों का मूल अधिकार है अथवा नहीं। सर्वोच्च न्यायालय में नौ न्यायाधीशों का पीठ जल्द इस पर निर्णय ले सकता है।

बहरहाल मूल अधिकार की बहस से इतर भारत को आंकड़ों के बचाव के लिए कानून तो चाहिए। ऐसा इसलिए क्योंकि आधार में केवल निजी आंकड़े ही नहीं आते। डिजिटलीकरण के दौर में आशंका है कि आंकड़ों का उपनिवेशन भी हो सकता है। नीलेकणी ने उपभोक्ताओं के आंकड़ों के चुनिंदा डिजिटल एग्रीगेटरों के पास सीमित हो जाने के खतरों के बारे में भी बात की। उन्होंने कहा कि यह प्रक्रिया देश को एक नए किस्म के उपनिवेश में बदल सकती है। उन्होंने एक नए निजता कानून की वकालत की जो लोगों को उनके आंकड़ों पर नियंत्रण प्रदान करे। यह बात समझदारी भरी लगती है क्योंकि आंकड़े बेचे जाने के बजाय जिस व्यक्ति के आंकड़े हैं उसको यह अधिकार होना चाहिए कि वह उनका उपयोग तय करे। ऐसी ही चिंताओं के चलते यूरोप में नियामक को निजता संबंधी नए कानून बनाने पड़े। फिलहाल ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है जिससे लोगों को यह पता लग सके कि उनके आंकड़ों का क्या हो रहा है। लोगों को यह जानकारी रहनी चाहिए। ऐपल को लेकर भी दूरसंचार नियामकों ने ऐसी ही चिंता जताई थी। दो ऐसी वजह हैं जिनके चलते नीति निर्माताओं को नीलेकणी की चेतावनी पर ध्यान देना चाहिए और डाटा के औपनिवेशीकरण तथा निजता को लेकर अपनी स्थिति मजबूत करनी चाहिए। कानूनी ढांचे के अभाव में यह स्पष्ट नहीं है कि आंकड़े चोरी होने पर पीडित की क्षतिपूर्ति कैसे होगी अथवा दोषी को दंड कैसे दिया जाएगा। दूसरी बात, हो सकता है कि आधार व्यवस्था हैक नहीं हुई हो लेकिन तकनीक तो हमेशा उन्नत होती रहती है। ऐसे में भविष्य की कोई गारंटी नहीं। आईआईटी इंजीनियर ऐसा कर चुका है।



Date: 11-08-17

चीन की चुनौती का सामना

हर्ष वी पंत | लेखक लंदन स्थित किंग्स कॉलेज में इंटरनेशनल रिलेशंस के प्रोफेसर हैं |

श्रीलंका बंदरगाह प्राधिकरण ने हाल में हंबनटोटा बंदरगाह की 70 फीसद हिस्सेदारी चाइना मर्चेन्ट पोर्ट्स होल्डिंग्स को बेचने पर सहमति दे दी। इसके साथ ही श्रीलंका का चीन की सरकारी कंपनी के साथ अपने दक्षिणपूर्व में स्थित इस बंदरगाह के संचालन से संबंधित 1.12 अरब डॉलर समझौता भी संपन्न हो गया। श्रीलंका सरकार ने इस करार पर हस्ताक्षर करने के करीब छह माह बाद अपनी हामी भरी है, क्योंकि यह स्थानीय लोगों के विरोध के चलते लटक गया था। अब नया-नवेला बंदरगाह 99 साल की लीज पर चाइना मर्चेन्ट पोर्ट्स होल्डिंग्स के लिए पूरी तरह सजकर तैयार है। अपनी मैरीटाइम सिल्क रोड परियोजना की सफलता के लिए चीन हंबनटोटा बंदरगाह को लंबे समय से रणनीतिक प्राथमिकता देता रहा है। इसी वजह से बीजिंग इस अनुबंध को बचाने के लिए तत्परता से कोशिश कर था। श्रीलंका समुद्री यातायात के लिहाज से बेहद महत्वपूर्ण जगह पर स्थित है। खासकर पश्चिम एशिया से आने वाले कच्चे तेल के जहाज इससे होकर गुजरते हैं। चीन अपनी ऊर्जा सुरक्षा सुनिश्चित करना चाहता है। यही वजह है कि चीन वहां निवेश करने को बेताब है। चीनी कंपनी द्वारा यह सुझाव दिया गया है कि इस मैरीटाइम इन्फ्रास्ट्रक्चर निवेश और प्रस्तावित इंटरनेशनल मैरीटाइम सेंटर जैसे दूसरे विविध निवेशों के जरिये श्रीलंका चीन के वन बेल्ट वन रोड इनिशिएटिव यानी ओबोर में रणनीतिक भूमिका निभाने के लिहाज से बेहतर स्थिति में आ जाएगा।

हालांकि कोलंबो के लिए यह परियोजना 2010 में जबसे आरंभ हुई है, एक बुरे ख्वाब में तब्दील हो गई है। श्रीलंका के बंदरगाह मंत्री महिंदा समारासिंघे के अनुसार जब तक बंदरगाह से मोटी कमाई नहीं होगी तब तक श्रीलंका के लिए चीनी कर्ज को चुकाने में मुश्किल पेश आएगी। सिरिसेना सरकार इस कर्ज के लिए पूर्व राष्ट्रपति महिंदा राजपक्षे को जिम्मेदार ठहराती रही है। चीन के आयात-निर्यात बैंक ने इसके निर्माण पर आने वाली लागत का बड़ा हिस्सा मुहैया कराया है जो लगभग 36.1 करोड़ डॉलर के करीब है। अब जब करार को अंतिम रूप दे दिया गया है तब उसके बाद यह स्पष्ट है कि श्रीलंका सरकार इस बात को लेकर पूरी तरह आश्वस्त है कि वह चीनी कर्ज चुका देगी। हालांकि चीनी कंपनी के अनुसार हंबनटोटा बंदरगाह को पूरी तरह तैयार करने में अभी भी 60 करोड़ डॉलर निवेश की दरकार होगी। इसके खिलाफ स्थानीय स्तर पर महीनों से लोग विरोध-प्रदर्शन कर रहे हैं। उनका विरोध निजी जमीनों पर तैयार किए जा रहे आर्थिक क्षेत्र में चीन को एक बड़ी हिस्सेदारी देने को लेकर है। वे बंदरगाह का नियंत्रण चीन के हाथ में जाने से भी काफी नाराज हैं। विपक्षी पार्टियों द्वारा इसमें श्रीलंकाई लोगों के लिए आरक्षण देने की मांग की जा रही है। उनका यह भी कहना है कि संसद में जब तक चर्चा न हो जाए, इस समझौते पर अमल न किया जाए। 2015 में सिरिसेना सरकार के सत्ता में आने के बाद यह आम धारणा बन गई थी कि श्रीलंका चीन पर अपनी निर्भरता कम करेगा, लेकिन वित्तीय दबाव के आगे उसके लिए इसे नजरअंदाज करना मुश्किल हो गया। इस द्विपीय देश पर कुल 64 अरब डॉलर के कर्ज का बोझ है। सरकार के राजस्व का करीब 95 प्रतिशत हिस्सा कर्ज चुकाने में चला जाता है। इसे देखते हुए ही चीन ने अंतिम युक्ति के रूप में स्वयं को आसान कर्जदाता के रूप में प्रस्तुत किया। भारत सहित अमेरिका और जापान जैसे देशों ने भी कोलंबो के समक्ष सुरक्षा का मुद्दा उठाया था। हालांकि श्रीलंका ने भारत को आश्वस्त किया है कि बंदरगाह से उसकी सुरक्षा को कोई खतरा नहीं है। उसका उपयोग सिर्फ व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए किया जाएगा। श्रीलंका सरकार के अनुसार बिना उसकी इजाजत के हंबनटोटा पर चीनी पनडुब्बी सहित कोई नौसैनिक जहाज नहीं आ सकता। दरअसल श्रीलंका ने इस करार में संशोधन किया जिसके तहत बंदरगाह पर कामकाज के लिए दो कंपनियां बनाई गईं। चीनी कंपनी कारोबारी कामकाज देखेगी, जबकि श्रीलंकाई कंपनी सुरक्षा का जिम्मा संभालेगी। असल में यह भारत की चिंता को दूर करने के लिए ही किया गया है। श्रीलंका भारत की सुरक्षा के दृष्टिकोण से काफी संवेदनशील रहा है। विशेषकर हाल के वर्षों में हिंद महासागर में चीन के बढ़ते दखल के बाद स्थिति और गंभीर हो गई है।

2014 में जब चीन ने अपनी पनडुब्बी को हंबनटोटा बंदरगाह पर खड़ा किया था तब भारत की चिंता साफ नजर आई थी। दरअसल चीन ने भी भारत को चिढ़ाने के लिए ही वह कदम उठाया था, लेकिन इस साल मई में जब चीन ने ऐसी ही एक पनडुब्बी कोलंबो बंदरगाह पर खड़ी करनी चाही तो कोलंबो ने अनुमति देने से इन्कार कर दिया। श्रीलंका का यह मामला अपने सामरिक हितों की पूर्ति के लिए चीन के काम करने के ढंग का सबसे बढ़िया उदाहरण है। दूसरे देश भी इसी तरह के संकट का सामना कर रहे हैं। उदाहरण के लिए

कंबोडिया का बहुपक्षीय सार्वजनिक ऋण अभी 1.6 अरब डॉलर है, जबकि चीन के साथ उसका द्विपक्षीय सार्वजनिक ऋण 3.9 अरब डॉलर है। इस ऋण के 80 फीसद हिस्से पर चीन का स्वामित्व है। आज चीन कंबोडिया के सबसे बड़े सैन्य और आर्थिक सहयोगी के रूप में उभरा है। इसके अलावा इसने 1992 से अब तक कंबोडिया को करीब तीन अरब डॉलर रियायती कर्ज और अनुदान के रूप में दिया है। चीनी निवेश और उसके भविष्य को लेकर मलेशिया में भी सवाल उठाने लगे हैं। कर्ज जाल कूटनीति का इस्तेमाल करते हुए चीन अब छोटे-छोटे देशों पर अपने हुकम का पालन करने के लिए दबाव बना रहा है। इन देशों के लिए यह विनाशकारी साबित होगा। यदि नई दिल्ली ऐसे देशों के साथ अपना मेलजोल नहीं बढ़ाती और साथ मिलकर काम नहीं करती तो अपने चारों तरफ चीन की बढ़ती मौजूदगी उसके लिए खतरनाक होगी। भारत के लिए चीन की चुनौती का सामना करने के लिए आर्थिक और सुरक्षा के मामलों में अपनी भूमिका में इजाजा आज समय की मांग है। आज जब चीन उत्तर में जमीनी हकीकत को बदलने की कोशिश करने के साथ डोकलाम मसले पर भारत को लगातार धमकियां दे रहा है तब नई दिल्ली के लिए अपने चारों तरफ बीजिंग की बढ़ती घेरेबंदी को तोड़ने के लिए समुद्री क्षेत्र का प्रयोग करने के बारे में रणनीतिक रूप से सोचना अपरिहार्य हो जाता है।



दैनिक भास्कर

Date: 11-08-17

नए भारत का सपना और आशंकाओं का विपक्ष

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने भारत छोड़ो आंदोलन की पचहत्तरवीं वर्षगांठ पर वर्ष 2022 तक नया भारत बनाने का जो संकल्प प्रस्तुत किया है वह स्वागत योग्य है। उन्हें पूरी ईमानदारी के साथ सबको साथ लेकर उसे पूरा करना चाहिए। उनकी इस बात से शायद ही कोई असहमत हो कि देश के विकास के कुछ मुद्दे ऐसे हैं जिन पर हमें राजनीति से ऊपर उठना चाहिए। वे भ्रष्टाचार मुक्त, आतंकवाद मुक्त, गरीबी मुक्त, जातिवाद मुक्त, संप्रदायवाद मुक्त, निरक्षरता मुक्त एक स्वच्छ और समृद्ध भारत का सपना देख रहे हैं। उसके लिए विभिन्न योजनाओं का शुभारंभ भी कर रहे हैं। निश्चित तौर पर हमें सपना देखना चाहिए। वर्ष 1942 के आंदोलन में जेलों में पड़े तमाम नेता सपने ही देख रहे थे और उसी सपने के लिए उन्होंने अपनी निजी आजादी सीखचों के पीछे कैद करवा ली थी। प्रधानमंत्री अच्छे वक्ता होने के साथ स्वप्नदर्शी हैं और वे उसके लिए वे कठिन श्रम भी करते हैं। इस बात को उनके समर्थकों के साथ विरोधी भी स्वीकार करते हैं। तभी उन्होंने भारत छोड़ो के 'करो या मरो' नारे को नया रूप देते हुए कहा भी है कि 'करेंगे और करके रहेंगे'। लेकिन संसद में बहस के दौरान उनके सपनों को कांग्रेस पार्टी की अध्यक्ष सोनिया गांधी स्वीकार करने को तैयार नहीं दिखाईं। सोनिया गांधी का यह कहना कि अंधेरा बढ़ रहा है और वे भारत छोड़ो के आदर्शों को संकीर्ण विचारों में कैद नहीं होने देंगी, यह दर्शाता है कि नए भारत के सपनों पर ही मतभेद नहीं है, कहीं पर मनभेद भी है। मोदी के सुनहरे सपनों पर निवर्तमान उपराष्ट्रपति हामिद अंसारी की यह टिप्पणियां भी सवाल उठाती हैं कि आज भारतीय मूल्य बेहद कमजोर हो रहे हैं। हर नागरिक की भारतीयता पर सवाल उठाया जा रहा है। ऐसे में करिश्माई नेतृत्व के धनी प्रधानमंत्री को यह देखना होगा कि प्रतिष्ठित व्यक्तियों और विभिन्न नागरिक समूहों की आशंकाएं क्या हैं, उन्हें कौन पैदा कर रहा है और उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है। महात्मा गांधी ने नेहरू और पटेल की आपत्तियों के बावजूद ऐसे व्यक्तित्वों को कैबिनेट और संविधान सभा में जगह दिलाई थी, जो लगातार कांग्रेस का, 1942 के आंदोलन का और स्वयं गांधी का भी विरोध करते रहते थे। मोदी अगर बैर और मनभेद मिटाने का प्रयास करें तो नए भारत के मार्ग में कोई बाधा आ ही नहीं सकती।

Date: 10-08-17

Tryst with Inequality

India has failed the Constitution's commitment to social justice

Abdul Khaliq, The writer, a former civil servant, is secretary general, Lok Janshakti Party. Views are personal.



As we approach our 71st Independence Day, one cannot help but reflect on where we stand as a nation. I can think of no better way to assess our progress than to measure it against the noble aspirations enshrined in the Preamble of the Constitution which spells out our resolve to secure justice, liberty, equality for every citizen and promote fraternity among all. How far have we progressed on this commitment? Our Constitution should have helped us create a truly egalitarian society but the power elite has failed miserably in ensuring equality and justice for all. Despite impressive economic growth in the last two decades, inequalities and injustices are pervasive.

According to World Bank estimates (2015), there has been a decline in India's poverty rate but this is cold comfort — 172 million citizens still live below the poverty line and constitute 24.5 per cent of the world's poor. That the neoliberal juggernaut has trumped distributive justice is evident from the fact that India's richest one per cent now hold 58 per cent of the nation's wealth. A great blot on our society is the prevalence of manual scavenging despite stringent laws prohibiting it. There are about 2.6 million dry latrines across the country that require manual cleaning, a loathsome task imposed on the Dalits of all religions by social sanction. That is not all. Although elaborate laws specifically aimed at protecting Dalits are in place, there is no let-up in the atrocities against this group. According to the National Commission for Scheduled Castes, there were 54,355 registered cases, including rape, murder and arson committed against Dalits in 2015 compared to 39,408 cases in 2013.

Another arena darkened by injustice and inequality is rural India where 68 per cent of our people live. India is today self-sufficient in agriculture, is the biggest exporter of rice in the world, the biggest producer of milk and second-largest producer of fruits and vegetables. The farming community made this happen. Yet unending waves of farmer suicides are overt manifestations of an on-going human tragedy. They are victims of an iniquitous system where even bumper harvests do not ensure reasonable profits; where there is no insurance against the vagaries of nature or volatility of the market; where the government's focus is on containing food inflation in cities with hardly a thought to whether the producer is adequately remunerated; where the governing class obsesses about smart cities and bullet trains while rural India remains without basic infrastructure. Our founding fathers had underlined fraternity as a vital

ingredient for building a vibrant democracy. Jawaharlal Nehru had cautioned that “it is the responsibility of the dominant community not to use its position in any way which might prejudice the secular ideal of the nation.” After Partition, there was animosity between Hindus and Muslims but that has abated over time. However, since the late 1980s, the mutual suspicion and distrust have intensified, and the country is witnessing a majoritarian assault on the Muslim and his way of life. Lynching for beef eating and suspicion of cow slaughter has become virtually quotidian. Politicians have been fishing in troubled waters by instigating the worst elements in both communities. With even educational institutions and cultural bodies purveying the gospel of hate, what we see today is an overpowering communalisation of the public space. The social gulf between the two communities that seems to be widening poses a greater threat to the nation’s well-being than terrorism or Pakistan.

Extreme gender inequality and intolerance to dissent are further manifestations of a deeply polarised society. I am reminded of what James Baldwin, the great Afro-American novelist observed in 1963 about white racists, the powerful and the wealthy in America: “I am terrified at the moral apathy, the death of the heart that is happening in this country.” We all need a change of heart.



Date: 10-08-17

When the paradigm shifts: on PM Modi's new brand of politics

The Modi government has managed to change business as usual in politics, in the absence of a counter-narrative

Happymon Jacob is Associate Professor, Disarmament Studies, School of International Studies, Jawaharlal Nehru University



The recent visit of Narendra Modi to Israel, the first ever visit by an Indian Prime Minister, and the blunt display of conviction and boldness in doing so, is a clear indication of how Mr. Modi, and the BJP-led regime in New Delhi, plan to radically alter the ‘ideology’ of the Indian state. ‘Change’ has undoubtedly been the underlying mantra of the Modi government. But have the changes brought about by the Bharatiya Janata Party (BJP) government over the past three years been cosmetic or has there been a fundamental ‘paradigm shift’ even if one were to argue that the Modi government’s economic and governance successes are

limited?

In his landmark book, *The Structure of Scientific Revolutions*, Thomas Kuhn makes a distinction between cosmetic changes in status quo and paradigm shifts: the latter are revolutionary and fundamental. Has Mr. Modi managed to shift the paradigm of our polity, and how we view and engage with it?

New brand of politics

One thing is becoming clearer by the day: the BJP's contemporary political articulations and policy formulation cannot be understood if we don't view them as a paradigm shift driven by powerful ideological forces. It's not business as usual or a mere extension of old politics, it's an altogether new brand of politics. As Kuhn would put it, we are witnessing a "proliferation of competing articulations, the willingness to try anything, (...) and the recourse to debate over fundamentals". We may end up missing the bigger picture and fail to understand its implications if we continue to view the policies of the current regime using the usual analytical tools of politics.

Some of us are refusing to see this paradigm shift and some others are unwilling to acknowledge what they see. But most of us seem to be interrogating Mr. Modi and his new brand of politics while still deeply embedded in the secular-liberal seductions of the Nehruvian world view. Even the earlier BJP government under Atal Bihari Vajpayee operated broadly from a Nehruvian paradigm: whenever questioned, the defence put up by the then NDA leadership was that it was merely building on the Nehruvian paradigm — and it was for the most part. If during the Vajpayee years it was 'business as usual', or what Kuhn calls the 'normal science' period, wherein the BJP was still busy aligning its policies within the Nehruvian paradigm, the tendency to 'fit in' is now a thing of the past. There is today an unapologetic shift from the Nehruvian paradigm to a Hindutva 2.0 paradigm.

Moreover, it would also be inaccurate to view Mr. Modi's Hindutva politics as merely subversive of the Nehruvian world view. Subversion is reactionary: Hindutva 2.0 is a fundamentally divergent Weltanschauung. Its policies may be flawed and ineffective, but it nevertheless reflects a new paradigm.

Contours of the new paradigm

The new Hindutva paradigm has major implications for India's domestic politics, conflict resolution practices, foreign policy, and social dynamics. The liberal, and left-leaning, Nehruvian intelligentsia traditionally enjoyed the pride of place in the pecking order of India's socio-political hierarchy. Endowed with state patronage, it formed the creme de la creme of modern India's class structure, controlling political debates, determining the boundaries of public morality and whose commentary on the state of the nation was revered. Not so in the Hindutva paradigm of today. The liberal intelligentsia is on the defensive, and the Hindutva intelligentsia is on the rise, with some from the former group having conveniently jumped ship. The role of minorities in our national imagination is also undergoing critical changes. When the Hindutva ideologues claim that there will be no more 'minority appeasement', what they really seem to be implying is that 'minorities have to either fall in line or be treated as second-class citizens'. And frankly, there is no difference between the two.

For Hindutva 2.0, domestic conflict resolution is a favourite staging ground to showcase aggressive nation-building practices, devoid of sensitive political rapprochement and accommodation, and with a high dose of aggressive rhetoric and military tactics. This is not only contrary to the broadly accommodative and politically-sensitive Nehruvian style of conflict resolution but also to the Vajpayee-era policies. The new paradigm is also evident in Mr. Modi's foreign and security policies. There is an

increase in aggression and grandstanding, at the cost of sustained diplomatic outreach, *vis-à-vis* China and Pakistan, two of India's most crucial neighbours. The eventual outcome of this aggression is already becoming evident. Display of strength and power is deeply ingrained in Hindutva's political culture and the new dispensation has only made it starker than ever.

The impact of this paradigm shift on socio-political structures could throw up phenomena we are either uncomfortable with or not used to. Not that the existing paradigm was wholly noble. Consider, for instance, why we are so appalled today by the lynching of Muslims by self-styled protectors of the Hindu religion, and not so much by abject poverty around us or the continued prevalence of the dehumanising caste system. Part of this disgust is because poverty and caste are part of our existing socio-political paradigm and we have come to accept and live with them, and even justify them. The Hindutva brigade's tirade against India's Muslims is not something we are used to, and hence the pushback. But once the resistance relents, it would start becoming acceptable, and sadly so.

Take another example: successive Congress governments or even the Vajpayee government almost never tried to put pressure on the higher education system and intellectual edifice of the country, both of which have been dominated by left-liberals. Instead, they were co-opted into the system. The new regime in New Delhi not only does not co-opt them, but is proactively sidelining and silencing them, leading to stiff resistance and resultant turmoil.

Yet another example is the Modi government's Kashmir policy. In the past, governments were not only desirous of political reconciliation in Kashmir but were also tolerant of the Kashmiri dissidents. Today's BJP government is doing exactly the opposite even to the extent of sending NIA sleuths after some of those very outfits which New Delhi's agencies had been courting, appeasing and promoting in the past. The violent response from Kashmir is a natural one. Paradigm shifts are typically followed by periods of turmoil, confusion and unease. And that is exactly what we are witnessing today.

What next?

While intellectual traditions might be able to absorb such structural changes with more receptivity and even learn from them, the impact of paradigm shifts on socio-political structures can be far more severe depending on the nature and direction of such shifts. Given that the organising principle of Hindutva 2.0 is majoritarian communalism, the likely result of the ongoing paradigm shift in Indian politics will be lot more chaos. We are already witnessing attempts at using persuasion of all kinds, including the use of force, to advance the Hindutva agenda. Given the polarising nature of such a paradigm shift, there are bound to be ideological struggles, street battles, regional divisions, and attempts at revisiting the fundamentals of the Indian Union, among others. Worse still, if the regime and its ideological mentors effect this paradigm shift without caring for pluralistic accommodation, religious sensitivity, regional differences and civil rights, it could lead to civil war-like situations, mounting dissent and violence. Those resisting this ideological transformation of the Indian state must remember that paradigm shifts are driven by powerful ideational constructs and the only way to resist or moderate such shifts is to generate powerful counter-narratives. In contemporary India, it is precisely such powerful ideational alternatives that are sorely missing: some have lost their way out of the erstwhile paradigm, some have given up resisting, and several others seemed to have jumped ship. Nitish Kumar won't be the last one to do so.
